



॥ ॐ ॥
॥ श्री परमात्मने नमः ॥
॥ श्री गणेशाय नमः ॥

अक्षि उपनिषद्





विषय सूची

॥अक्षि उपनिषद॥.....	3
प्रथम खण्ड.....	4
द्वितीय खण्ड.....	6
शान्तिपाठ	18



॥ श्री हरि ॥

॥ अथ अक्षुपनिषत् ॥

॥ अक्षि उपनिषद् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

यत्सप्तभूमिकाविद्यावेद्यानन्दकलेवरम् ।
विकलेवरकैवल्यं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शान्ति हो।



॥ श्री हरि ॥

॥ अक्षुपनिषत् ॥

॥ अक्षि उपनिषद ॥

प्रथम खण्ड

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम ।
तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मतीविद्यया तमस्तुवत् ।
ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः ।
ॐ खेचराय नमः । ॐ महासेनाय नमः । ॐ तमसे नमः ।
ॐ रजसे नमः । ॐ सत्त्वाय नमः ।
ॐ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय । हंसो भगवा-
ञ्छुचिरूपः प्रतिरूपः । विश्वरूपं घृणिनं
जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतीरूपं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः पुरुषः
प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । ॐ नमो
भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोवाहिनि
वाहिनि स्वाहेति । एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः
श्रीसूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीच्चाक्षुष्मती-
विद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो
भवति । न तस्य कुलेऽन्धो भवति । अष्टौ
ब्राह्मणान्प्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति ।
य एवं वेद स महान्भवति ॥ १ ॥

एक समय की कथा है कि भगवान् सांकृति आदित्य लोक गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् सूर्य को नमस्कार कर चाक्षुष्मती विद्या द्वारा उनकी अर्चना की- 'नेत्रेन्द्रिय के प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्य को नमस्कार है। आकाश में विचरणशील सूर्य देव को नमस्कार है। हजारों किरणों की विशाल सेना रखने वाले महासेन को नमस्कार है। तमोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। रजोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। सत्त्वगुणरूप सूर्यनारायण को प्रणाम है। हे सूर्यदेव ! हमें असत् से सत्य की ओर ले चलें। हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें। हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलें। भगवान् भास्कर पवित्ररूप और प्रतिरूप (प्रतिबिम्ब प्रकटकर्ता) हैं। अखिल विश्व के रूपों के धारणकर्ता, किरण समूहों से सुशोभित, जातवेदा (सर्वज्ञाता), सोने के समान प्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप तथा तापसम्पन्न भगवान् भास्कर को हम स्मरण करते हैं। ये हजारों रश्मिसमूह वाले, सैकड़ों रूपों में विद्यमान सूर्यदेव सभी प्राणियों के समक्ष प्रकट हो रहे हैं। हमारे चक्षुओं के प्रकाशरूप अदितिपुत्र भगवान् सूर्य को प्रणाम है। दिन के वाहक, विश्व के वहनकर्ता सूर्यदेव के लिए हमारी सर्वस्व समर्पित है। ' इस चाक्षुष्मती विद्या से अर्चना किये जाने पर भगवान् सूर्यदेव अतिहर्षित हुए और कहने लगे- 'जिस ब्राह्मण द्वारा इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ प्रतिदिन किया जाता है, उसे नेत्ररोग नहीं होते और न उसके वंश में कोई अंधत्व को प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणों को इस विद्या का ज्ञान करा देने पर इस विद्या की सिद्धि होती है। इस प्रकार का ज्ञाता महानता को प्राप्त करता है' ॥१॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥१॥

द्वितीय खण्ड

अथ ह सांकृतिरादित्यं पप्रच्छ भगवन्-
 ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति । तमादित्यो होवाच ।
 सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम् ।
 येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥१॥

उसके बाद सांकृति ऋषि ने भगवान् सूर्य से कहा- 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें।' आदित्य देव ने उनसे कहा- 'सांकृते ! आपसे अतिदुर्लभ तत्त्वज्ञान का विवेचन मैं करने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनें, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप जीवन्मुक्त हो जाएँगे' ॥१॥

सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
 पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्त आस्व यथासुखम् ॥ २ ॥

अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
 योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु ॥ ३ ॥

आप समस्त प्राणिमात्र को एक, अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वज्ञान से चैतन्यरूप देखते हुए शान्ति और सुख पूर्वक रहें। अवेदन अर्थात् आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का आभास न हो, इसी का नाम योग है, यही यथार्थ चित्त-क्षय है। इसलिए योग में स्थित होकर कर्तव्य कर्मों का निर्वाह करें, कर्म करते हुए नीरसता न आने पाए ॥२-३॥



विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ४॥

ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सते ।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ५॥

योग की ओर प्रवृत्त होने पर अन्तःकरण दिनप्रतिदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है। साधक नित्य ही परमार्थ कर्मों को करता हुआ हर्ष का अनुभव करता है। जड़ मनुष्यों की भोग प्रवृत्तियों (ग्राम्य चेष्टाओं) से वह हमेशा जुगुप्सा (घृणा) करता है। किसी के गुप्त रहस्य प्रसंग को अन्यो के समक्ष नहीं कहता, अपितु वह पुण्य कृत्यों में ही हमेशा संलग्न रहता है ॥४-५॥

अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापाद्धिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ ६॥

स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ७॥

जिन कृत्यों से किसी प्राणी को उत्तेजित न होना पड़े, ऐसे दया और उदारतापूर्ण सौम्य कर्मों को वह करता है। वह पाप से भयभीत रहता और भोग साधनों की अभिलाषा नहीं करता। वह ऐसी वाणी का प्रयोग करता है, जिसमें सहज स्नेह और प्रेम का प्राकट्य हो तथा जो



मृदुल और औचित्यपूर्ण होने के साथ-साथ देश, काल, पात्र के अनुकूल हो ॥६-७॥

मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ।

यतः कुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्यवेक्षते ॥ ८ ॥

मन से, वचन से और कर्म से श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करते हुए जहाँ कहीं से भी प्राप्त हो सके, प्रतिदिन सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता है ॥८॥

तदासौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।
एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तरणं प्रति ॥ ९ ॥

स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः ।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ॥ १० ॥

इस स्थिति में ही वह प्रथम भूमिका वाला कहलाता है। भवसागर से उस पार जाने की जो अभिलाषा करता है, वही इस प्रकार के विचार को प्राथमिकता देता है। वह भूमिकावान् कहा जाता है और शेष 'आर्य'(दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। जो योग की दूसरी विचार भूमिका से युक्त हैं, (उनके लक्षण इस प्रकार से हैं-) ॥९-१०॥

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणः ।

मुख्यया व्याख्यायाख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपण्डितान् ॥ ११ ॥

वह ऐसे ख्यातिलब्ध श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान की उत्तम व्याख्या के लिए अधिक चर्चित हों ॥११॥

पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्चान्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १२ ॥

मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम् ।
बहिरप्यास्थितामीषत्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १३ ॥

इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १४ ॥

वह पदार्थों के विभाग और पद को उचित रीति से जानता है तथा श्रवण करने योग्य सत्शास्त्रों में पारंगत हो जाने पर कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कुशल हो जाता है। मद, अहंकार, मात्सर्य, लोभ और मोहादि की अधिकता उसके चित्त को डाँवाडोल नहीं करती, बाह्य आचरण में यत्किंचित् यदि उसकी स्थिति रहती है, तो उसका भी उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। इस प्रकार का सदज्ञान सम्पन्न साधक शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग द्वारा रहस्यपूर्ण गूढ़ज्ञान को भी प्रयत्नपूर्वक स्वाभाविक रूप में हस्तगत कर लेता है ॥१२-१४॥

असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम् ॥ १५ ॥

यथावच्छास्त्रवाक्यार्थं मतिमाधाय निश्चलाम् ।
 तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्रमैः ।
 शिलाशय्यासनासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ १६ ॥

वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
 असङ्गसुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ १७ ॥

अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
 जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ १८ ॥

तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम् ॥ १९ ॥

इसके पश्चात् वह योग की असंसर्गनामी तीसरी भूमिका में प्रवेश करता है- ठीक उसी प्रकार, जैसे कोई सुन्दर मनुष्य साफ-सुथरे फूलों के बिछौने पर अवस्थित होता है। शास्त्र जैसा अभिमत व्यक्त करते हैं, उसमें अपनी स्थिर मति को संयुक्त करके, तपस्वियों के आश्रम में वास करता हुआ अध्यात्म शास्त्र की चर्चा करते हुए पाषाण-शय्या पर आरूढ़ होते हुए ही वह सम्पूर्ण आयु बिता देता है। वह नीति पुरुष चित्त को शान्ति पहुँचाने वाले अधिक शोभाप्रद वन भूमि के विहार द्वारा विषयोपभोग से विरत होकर स्वाभाविक रूप में उपलब्ध सुख-साधनों को भोगता हुआ अपना जीवनयापन करता है। सद्गुणों के अभ्यास और पुण्य कर्मों के किये जाने से प्राणी की वास्तविक पर्यवेक्षण दृष्टि पवित्र होती है। इस तृतीय भूमिका को प्राप्त



करके साधक स्वयमेव ज्ञानवान् होकर इस स्थिति का अनुभव करता है ॥१५-१९॥

द्विप्रकारसंसर्गं तस्य भेदमिमं शृणु ।
द्विविधोऽयमसंसर्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ॥ २० ॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ।
इत्यसंजनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ॥ २१ ॥

प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा ।
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र तव कर्तृता ॥ २२ ॥

भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ।
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियाम् ॥ २३ ॥

कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ।
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलब्धमनसः समान्योऽसावसङ्गमः ॥ २४ ॥

असंसर्ग-सामान्य और श्रेष्ठ भेद से दो तरह का है। मैं न तो कर्ता, न भोक्ता, न बाध्य और न बाधक ही हूँ- इस प्रकार से विषयोपभोग में आसक्ति से रहित होने की भावना ही सामान्य असंसर्ग कहलाती है। सब कुछ पूर्वजन्म कृत कर्मों का प्रतिफल है या सब कुछ परमात्मा के अधीन है-ऐसी मान्यता रखना, सुख हो या दुःख इसमें मेरे किये गये कार्यों का अस्तित्व ही क्या है? भोगसाधनों का अतिसंग्रह महारोगरूप है और समस्त वैभव परम आपत्तियों के स्वरूप हैं।



सभी संयोगों की अन्तिम परिणति वियोग के रूप में है। मानसिक चिन्ताएँ अज्ञानग्रस्तों के लिए व्याधिरूप हैं। सभी क्षणभंगुर पदार्थ अनित्य हैं, सभी को काल-कराल अपना ग्रास बनाने में संलग्न है। (शास्त्रवचनों को जान लेने से उत्पन्न) अनास्था से मन में उनके अभाव की भावना को पैदा करता है, यह सामान्य असंसर्ग कहलाता है ॥२०-२४॥

अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥ २५॥

कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ २६॥

इस प्रकार महान् पुरुषों के निरन्तर सत्संग से जो यह कहे कि मैं कर्ता नहीं, ईश्वर ही कर्ता है या मेरे पूर्व जन्म में किए गये कर्म ही कर्ता हैं। इस प्रकार से समस्त चिन्ताओं और शब्द-अर्थ के भाव को विसर्जित कर देने के पश्चात् जो मौन, आसन और शान्त-भाव की प्राप्ति होती है, वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहा जाता है ॥२५-२६॥

सन्तोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका ।
भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृताङ्कुरिकेव सा ॥ २७॥

एषा हि परिमृष्टान्तः संन्यासा प्रसवैकभूः ।
द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्नुयात्ततः ॥ २८॥

श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥ २९ ॥

भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थी भूमिकां गताः ॥ ३० ॥

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकां गताः ॥ ३१ ॥

अन्तःकरण की भूमि में अमृत के छोटे अंकुर के प्रस्फुटन की तरह ही सन्तोष और आह्लादप्रद होने से मधुर प्रतीत होने वाली प्रथम भूमिका का अभ्युदय होता है। इसके उत्पन्न होते ही अन्तरंग में शेष भूमिकाओं के लिए भूमि तैयार हो जाती है। इसके बाद होने वाली दूसरी एवं तीसरी भूमिका में भी साधक कुशलता प्राप्त कर लेता है। इस तीसरी भूमिका को इसलिए सर्वोत्कृष्टता की श्रेणी में गिना गया है; क्योंकि इसमें साधक सभी संकल्पजन्य वृत्तियों को पूर्णतः त्याग देता है। अद्वैतभाव की दृढ़भावना से द्वैतभाव स्वतः समाप्त हो जाता है। चौथी भूमिका को प्राप्त साधक इस लोक को स्वप्न की तरह स्वीकार करता है ॥२७-३१॥

भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते ॥ ३२ ॥

चित्तं तु शरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
सत्त्वावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ॥ ३३ ॥

जगद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात् ।

पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रकः ॥ ३४ ॥

गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽतःप्रबोधवान् ।
सुषुप्तमन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ॥ ३५ ॥

अन्तर्मुखतयातिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥ ३७ ॥

यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमननमास्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥ ३८ ॥

निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥ ३९ ॥

षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

प्रारम्भिक तीन भूमिकायें जाग्रत्-स्वरूपा हैं तथा चौथी भूमिका स्वप्न कही जाती है। पंचम भूमिका में आरूढ़ होने पर साधक का चित्त शरत्तु के बादलों की तरह विलीन हो जाता है, मात्र सत्त्व ही शेष बचता है। चित्त के विलीन हो जाने से जागतिक विकल्पों का अभ्युदय नहीं होता। सुषुप्तपद नाम की इस पंचम भूमिका में सम्पूर्ण विभेद शान्त हो जाने पर साधक मात्र अद्वैत अवस्था में ही अवस्थित रहता

है। द्वैत के समाप्त हो जाने से आत्मबोध से युक्त हर्षित हुआ साधक पंचम भूमिका में जाकर सुषुप्तघन (आनन्दप्रद अवस्था) को प्राप्त कर लेता है। वह बहिर्मुखी व्यवहार करते हुए भी हमेशा अन्तर्मुखी ही रहता है तथा सदा थके हुए की तरह निद्रातुर सा दिखता है। इस भूमिका में कुशलता हासिल करते हुए वासनाविहीन होकर वह साधक क्रमशः तुर्या नाम वाली छठी भूमिका में प्रविष्ट होता है। जहाँ सत्-असत् का अभाव है, अहंकार-अनहंकार भी नहीं है तथा विशुद्ध अद्वैत स्थिति में मननात्मक वृत्ति से रहित होने पर वह अत्यन्त निर्भयता को प्राप्त करता है। हृदय ग्रन्थियों के उद्घाटित होने पर संशय मिट जाते हैं। जीवन्मुक्त होकर उसकी भावशून्यता की सी स्थिति रहती है। निर्वाण को उपलब्ध न किये जाने पर भी उसकी स्थिति निर्वाण पद को प्राप्त साधक जैसी हो जाती है। उस समय वह निश्चेष्ट दीपक की तरह निश्चल रहता है। छठी भूमिका के पश्चात् वह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त करता है। विदेह-मुक्त की स्थिति ही सातवीं भूमिका कही गयी है ॥३२-४०॥

विदेहमुक्ततात्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु ॥ ४१ ॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ ४२ ॥

ओङ्कारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ।
वाच्यवाच्यकताभेदाभेदेनानुपलब्धितः ॥ ४३ ॥

अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारतैजसः स्मृतः ।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु ॥ ४४ ॥

समाधिकालात्प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नतः ।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥ ४५ ॥

चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसद्वयः ।
परमानन्दसन्देहो वासुदेवोऽहोमिति ॥ ४६ ॥

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ ॥ ४७ ॥

अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ।
आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम् ॥ ४८ ॥

प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् ॥ ४९ ॥

यह भूमिका परम शान्त की है तथा वाणी की सामर्थ्य से अवर्णनीय है। यह सब भूमिकाओं की सीमारूप है तथा यहाँ सम्पूर्ण योग भूमिकाओं की समाप्ति है। लोकाचार, देहाचार और शास्त्रानुगमन को छोड़कर अपने अध्यास को नष्ट करे। विश्व, प्राज्ञ और तैजस के रूप में यह समस्त विश्व उँकार स्वरूप ही है। वाच्य और वाचक में अभेदता रहती है और भेद होने पर इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं। इन्हें क्रमशः इस प्रकार जाने- प्रणव की प्रथम मात्रा अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ रूप है। समाधिकाल से पहले विशेष प्रयासपूर्वक इस सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करके स्थूल और सूक्ष्म से



क्रमशः सब कुछ चिदात्मा में विलीन करे। चिदात्मा का स्व-स्वरूप स्वीकार करते हुए ऐसा दृढ़ विश्वास करे- 'मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तारूप, अद्वितीय, परम-आनन्द सन्दोह रूप एवं वासुदेव प्रणव ॐकार हूँ।' चूँकि आदि, मध्य और अन्त में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दुःख देने वाला ही है, इसलिए हे निष्पाप ! सबका परित्याग करके तत्त्वनिष्ठ बने। 'मैं अज्ञानरूपी अन्धकार से अतीत, सभी प्रकार के आभास से रहित, आनन्दरूप, मलरहित, शुद्ध, मन और वाणी से अगोचर, प्रज्ञानघन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ', ऐसी भावना करे। यही उपनिषद् है ॥४१-४८॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥२॥

॥ हरि ॐ ॥



शान्तिपाठ

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ इत्यलक्ष्युपनिषत् ॥

॥ अक्षि उपनिषद समाप्त ॥



संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥